P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-5* ISSUE-12*August- 2018
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

संस्थाओं की उत्पत्ति एवं उनके दार्शनिक आधार

पिताम्बर दास जाटव
असिस्टेंट प्रोफेसर,
दर्शनशास्त्र विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

सारांश

मानव अपनी आदिमकालीन अवस्था में सीमित संसाधनों के साथ रहता था, परन्तु जैसे–जैसे मानव सभ्यता का विकास होता गया, मानव की आवश्यकताएँ भी बढ़ने लगी, जिनकी पूर्ति करने में मानव ने अपने आपको असमर्थ पाया, जिसके कारण मानव के समूह मे से विभिन्न कार्य करने वाले लोगों के समूह बनने लगें और स्वभाव एवं क्षमता के आधार पर लगातार एक ही कार्य करते रहने के कारण उनमें विशिष्ट योग्यताएं बनने लगी। मशीनों एवं विज्ञापनों के आविष्कार ने मानव की आवश्यकताओं को और अधिक बढ़ा दिया जिसके कारण विशेष–विशेष कार्य करने वाले लोगों के समूह साहचर्य की प्रणाली के रूप लेने लगें। ये साहचर्य की प्रणालीयाँ मानव के विकास में सहयोग करती हुई, सभ्यता के विकास क्रम में संस्था के रूप में दिखाई देने लगी, जिनका कार्य मनुष्य के विकास में सहयोग करने के साथ–साथ उसकी विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करना हो गया, जिनका अब मानव जीवन में स्थायी अस्तित्व बन गया। मानव की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने वाली इन विभिन्न संस्थाओं में हम धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक, शैक्षिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि संस्थाओं को जानते है। इन संस्थाओं की उत्पत्ति दर्शन की विभिन्न विचारधाराओं की पृष्ठभूमि में दिखाई देती है।

मुख्य शब्द : संस्था, उत्पत्ति, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, आर्थिक, राजनैतिक, दार्शनिक, मानव, समूह, साहचर्य, आवश्कता, भाषा, वर्धी।

प्रस्तावना

इस सृष्टि में अनेक प्रकार के चेतन जीव अपनी–अपनी दृष्टि से जीवन–यापन करते है और अपने समूह अथवा परिवार में ही अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते है परन्तु इस सृष्टि पर मनुष्य ही एक ऐसा जीव है जिसकी अनन्त इच्छायें एवं आवश्यककतायें है, जिनकी पूर्ति वह अकेला पूरा नहीं कर सकता है। यहीं कारण है कि मानव नें अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु भिन्न–भिन्न प्रकार की साहचर्य की प्रणालियां बनायी है। जे0 एस0 मेकेन्जी ने अपनी पुस्तक ''समाज दर्शन की रूपरेखा'' में साहचर्य प्रणालियों अर्थात् संस्थाओं के बारे में वर्णन करते हुए लिखा है कि ,'' व्यापक अर्थ में साहचर्य की कोई भी एक प्रणाली संस्था कहला सकती है। परिवार, भाषा, शिक्षा और धर्म आदि सभी को संस्था कहा जा सकता है, क्योंकि ये ऐसे संगठन हैं जिनका निर्माण मनुष्य की इच्छा अथवा चयन पर होता है। परन्तु जब वे ऐच्छिक निर्माण की अपेक्षा प्राकृतिक वृद्धि के रूप में सामने आते हैं, तो उन्हें 'संस्था' शब्द द्वारा अभिव्यक्त करना उचित नहीं होता। सीमित अर्थ में उन्हें एक ऐसा उपकरण कहा जा सकता है जिनके द्वारा साहचर्य–प्रणालियाँ निर्मित और रक्षित की जाती है और विशेष कर्त्तव्यों की पूर्ति की जाती है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि विवाह या विवाह का विशेष ढंग, एक संस्था है परन्तु परिवार एक संस्था नहीं है, लोकसभा एक संस्था है, परन्तु स्वयं राज्य एक संस्था नहीं है। इसी प्रकार भाषा को संस्था नहीं कहा जा सकता, परन्तु मुद्रण–संस्थान एक संस्था है, शिक्षा एक संस्था नहीं है, परन्तु तकनीकि विद्यालय एक संस्था है, धर्म एक संस्था नहीं है, परन्तु देवालय एक संस्था है और इसी तरह आगे भी समझा जा सकता है। इसी प्रकार स्कूल एक संस्था है, परन्तु उसे साहचर्य की एक प्रणाली के रूप में भी कहा जा सकता है। लोकसभा एक संस्था है, परन्तु इसे शासकीय संस्था के एक रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। भाषा एक साधन है, परन्तु यह एक ऐसा उपकरण अथवा साधन है जो अचेतन प्रकिया द्वारा संबुद्ध होता रहता है और मानव–साहचर्य की सभी प्रणालियों के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः उसे एक संस्था भी कहा जा सकता है।

साहित्यावलोकन

प्रस्तुत शोध पत्र से सम्बंधित मुख्य सामग्री डॉ0 रामजी सिंह की पुस्तक ''समाज दर्शन के मूल तत्त्व'' के अध्याय छः एवं आठ 'राज्य और राजनीति–दर्शनएवं आर्थिक संगठन और सम्पत्ति' पृ0 सं0 179–230 एवं 265–308 पर विवेचित है। यह पुस्तक राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा वर्ष 1983 में प्रकाशित हुयी है। शोध पत्र के कुछ महत्वपूर्ण तथ्य जे0 एस0 मेकेंजी की पुस्तक ''समाज दर्शन की रूपरेखा के अध्याय प्रथम–मानव प्रकृति, पृ0सं0 54–66 एवं 81–105 पर भी उपलब्ध है। इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद डॉ0 अजित कुमार सिन्हा जी ने किया है और यह पुस्तक राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से वर्ष 2009 में प्रकाशित है। डॉ0 शिवभानु सिंह की पुस्तक ''समाज दर्शन का सर्वेक्षण'' के अध्याय तृतीय एवं चतुर्थ तथा अध्याय सत्रह पृ0सं0 41–57 एवं 58–86 तथा 285–306 में भी कुछ सामग्री शोध पत्र से सम्बंधित लिखित है। यह पुस्तक सन् 2001 में शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद से प्रकाशित है। ऐनसाइक्लापीडिया ऑफ सोशल फिलॉस्फी एवं एन्थोपोलाजी में भी प्रथम अध्याय में शोध पत्र से सम्बन्धित महत्वपूर्ण जानकारी दी गयी है। डॉ0 पिताम्बर दास द्वारा लिखित पुस्तक ''दर्शनशास्त्र की शोध प्रविधियाँ'' के पृ0 सं0 88–103 पर भी इस शोध पत्र से सम्बंधित कुछ सामग्री लिखित है। यह पुस्तक शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद द्वारा वर्ष. 2017 में प्रकाशित है। इस शोध पत्र से सम्बन्धित भारतीय समाज दर्शन की दृष्टि से महत्वपूर्ण सामगी हमें प्रो0 गीतारानी अग्रवाल जी की पुस्तक 'भारतीय समाज दर्शन (धर्मशास्त्रों के परिप्रेक्ष्य में) के अध्याय 6,7,8,9 के पृ0सं0 173–307 पर कहीं–कहीं मिलती है। यह पुस्तक न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, नई दिल्ली द्वारा वर्ष 2008 में प्रकाशित हुई है। उपरोक्त पुस्तकों के अलावा सोसल रिसर्च फाऊण्डेशन, कानपुर द्वारा प्रकाशित ' पत्रिका '' रिमार्किंग एन ऐनेलाइजेशन'' के नवें अंक, वो0 1, दिसम्बर, 2016 के पृ0 सं0 133–140 पर प्रकाशित डॉ0 पिताम्बर दास जी के शोध पत्र 'समाज दर्शन की पद्धतियां' में भी महत्वपूर्ण लिखित सामग्री उपलब्ध है। उक्त फाउण्डेशन द्वारा ही प्रकाशित 'श्रृंखला एक शोधपरक वैचारिक पत्रिका' के पृ0सं0 58–64 पर प्रकाशित डॉ0 पिताम्बर दास जी के शोध पत्र 'मानव स्वभाव की उत्पत्ति : एक दार्शनिक विवेचन' वो05, अंक–10, जून–2018 पर भी कुछ सामग्री विद्यमान है। उक्त फाउण्डेशन द्वारा प्रकाशित 'पीरियोडिक रिसर्च' में डॉ0 पिताम्बरदास जी के शोध पत्र 'समाज की दार्शनिक पृष्ठभूमि' पृ0सं0 44–50, वो0 6, अंक–4, मई–2018 में भी कुछ सामग्री विद्यमान है।

शोध पत्र का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य यह बताना है कि किस प्रकार मानव का सहयोग करने वाली विभिन्न संस्थाओं की उत्पत्ति होती हैं और कौन–कौन सी दार्शनिक विचारधाराएँ इन संस्थाओं अथवा साहचर्य प्रणालियों की उत्पत्ति के मूल में है। यह भी बताना है कि ये विभिन्न संस्थाएँ मानव की विभिन्न आवश्यकताओं को किस प्रकार से पूरा करती हैं और इन संस्थाओं का अस्तित्व मानव सभ्यता के विकास में स्थायी है।

मुख्य संस्थाओं की विवेचना भाषा

यदि हम भाषा के बारे में बात करें तो भाषा का अर्थ विशेषतः कानों के लिए प्रयुक्त बोलने का एक ढंग है। भाषा के अधिकतर रूप आँख और कान दोनों के लिए प्रयुक्त होते हैं और कुछ ऐसे रूप भी है, जैसे चित्रलिपि अथवा मूक–बधिर लोगों की भाषा केवल आँखों के लिए ही प्रयुक्त होती है। अन्धें लोग प्रायः कुछ सीमा तक स्पर्श–शक्ति का सहारा लेते हैं। साधारणतया लेखन और मुद्रण निःसन्देह प्राथमिक रूप में, हमारी आँखों के लिए ही प्रयुक्त होते हैं, परन्तु उससे सुनने के शब्दों का भाव भी निकलता है। भाषा में उन सभी प्रकार की प्रणालियों को ग्रहण किया जा सकता है जिनके द्वारा एक या अधिक मनुष्य अन्य लोगों को अपनी निश्चित बात पहँचाते हैं। यहाँ हम उन अस्पष्ट भावों को नहीं लेंगे, जो पशुओं अथवा निर्जीव वस्तुओं के साथ प्रयुक्त किये जाते है। यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल मानव–जीवन से ही है। अपना भाव जिन तरीकों में व्यक्त किया जा सकता है, उनमें हम अभिव्यंजनात्मक संकेतों, विस्मयादिबोधकों, गणित–सम्बन्धी प्रतीकों, संगीत–स्वरों और उनके संयोजनों, चित्रों–पताकाओं, समारोह–जुलूसों, भेंटों और यहाँ तक कि कभी–कभी खाने–पीने के ढंग भी ले सकते हैं। अन्तिम उदाहरण के रूप में और इसी तरह के अन्य उदाहरणों के लिए हम विचार–संवहन–साधनों की ओर संकेत करते हैं और उन गीतों की ओर भी जैसे ''मेरा पान केवल अपनी आँखों से कीजिए'' आदि। इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यापक एवं सीमित दोनों अर्थों में भाषा के बिना किसी भी तरह मानवीय साहचर्य की कल्पना नहीं की जा सकती। मानव–चेतना के विकास में भाषा ने जो हाथ बटाया है, उसका मूल्यांकन मनोवैज्ञानिकों पर आधारित है और भाषा किस अर्थ को लेकर चल रही है उसका अर्थ निकालना तर्कशास्त्रियों का कार्य है। इस तरह भाषा को विशाल रूप में देखने से हम इस निश्चय पर पहुँचते है कि भाषा सभी सामाजिक संस्थाओं की आधारभूमि है और यही कारण है कि भाषा अपने आपको संस्था कहलाने का अधिकार रखती है।

शैक्षणिक संस्था

जब हम ऐसी संस्थाओं की ओर ध्यान देते है, जिनका प्राथमिक उद्देश्य एकता के किसी विशेष प्रकार को स्थिर रखने की बजाय सामाजिक एकता का निर्माण करना है। उन्हें विस्तृत रूप में वे शैक्षणिक कह सकते है, यद्यपि कुछ रूपों में वे शैक्षणिक लक्ष्यों की पूर्ति निश्चित रूप से नहीं करती है। उदाहरण स्वरूप उद्देश्य के अनुसार परिवार को हम प्रधानताः शिक्षणात्मक कह सकते है, यद्यपि परिवार अन्य लक्ष्यों की पूर्ति भी करता है, जो इस विशेषता के अन्तर्गत नहीं आते। निश्चय ही परिवार का अस्तित्व छोटे बच्चों के पालन–पोषण के रूप में और विशाल सामुदायिक जीवन में प्रवेश की तैयारी के रूप में होता है। स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय स्पष्टतः इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए स्थापित किये जाते है। इसीलिए उन्हें स्पष्ट रूप से शैक्षणिक संस्था कहना अधिक उचित है। शिक्षा का अर्थ व्यापक एवं सीमित रूप में लिया जाता

है। शिक्षा के व्यापक अर्थ की अवधारणा पर ग्रीक दार्शनिक प्लेटों के 'रिपब्लिक' में अधिक जोर डाला गया है। प्लेटो के अनुसार जो लोग आदर्श समुदाय में उच्च पदों पर आसीन होंगे, उनका निर्माण और विकास किया जाए। परन्तु आधुनिक विचारकों की मान्यता है कि विशेष प्रकार के व्यक्तियों के लिए भी शिक्षा की कोई विशेष पद्धति निकाल लेना संभव नहीं और पूरे समाज के लिए तो और भी कम संभव है। शिक्षा हमें अपने जीवन की समस्याओं के समाधान, प्रकृति के प्रभाव और सुझावों, दूसरे साथियों के साथ व्यवहार तथा प्रायः अपनी असफलता और कष्टों द्वारा प्राप्त होती है। सीमित अर्थ में शिक्षा का कार्य हमारी शक्तियों के विकास और सुधार के लिए चेतनापूर्वक किये गए प्रयासों से लिया जाता है। इस शिक्षा को प्रदान करने वाली पाठशाला, तकनीकी संस्थान, उच्च शिक्षा संस्थान एवं पूरक शिक्षा संस्थान समाज में किzयाशील रहते है।

शिक्षा संस्था की दार्शनिक पृष्ठभूमि

ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने शिक्षा को दार्शनिक दृष्टि से देखते हुए कहा है कि मानवीय आत्मा या मन एक क्रियाशील शक्ति है। इसके सामने विषय प्रस्तुत नहीं किये जाते, बल्कि यह स्वयं विषयों की ओर आकृष्ट होता है। आत्मा एक अनुकरणीय पदार्थ है जो अपने–आपको अपने परिवेश के अनुरूप स्वाभाविक रूप से ढालता रहता है। मानव मस्तिष्क या मन चेतनायुक्त और जिज्ञासु है। इस जिज्ञासा और आकर्षणावृत्ति से मन का झुकाव जाना जाता है। शिक्षक को इसके साथ किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चहिए। उसका काम केवल इतना ही है कि वह अपने शिक्षार्थी के मानसिक नेत्रों के सामने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करे जिससे वह वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में देख सके। मनुष्य के ज्ञान–चक्षु परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अपने आप खुल सकें और वे अन्तरात्मा से सच्चे ज्ञान की प्रकाशमयी किरणें बिखेर सकें, वही वास्तविक शिक्षा है। इस प्रकार शिक्षा बाहरी वातावरण के आत्मा या मन पर पड़ने वाले प्रभाव की प्रतिक्रिया है। शिक्षा का यह क्रम आजीवन होता है और उसके साधन, अभिकरण एवं माध्यम अवस्थानुसार अवश्य बदलते रहते है, अवस्थानुसार मनुष्य पर बाहरी वातावरण की प्रतिक्रियाएँ भी बदलती रहती हैं। अतः मनुष्य की शिक्षा के विषयों में भी अन्तर आते रहना स्वाभविक है। बाल्यावस्था में आत्मा पर कल्पना का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, अतः प्रारम्भिक शिक्षा का काम कल्पना को परिमार्जित बनाना और भावनाओं को परिष्कृत करना है। किशोरावस्था में तर्क का उदय होता है और आत्मा तर्क द्वारा ग्राह्य बनती है क्योंकि इस अवस्था में शिक्षा विज्ञान और दर्शन के माध्यम से तर्क–शक्ति के आधार पर दी जानी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों से परिचित कराना तथा उनको पालन करने की दीक्षा देना हैं। आगे चल कर शिक्षा का यह सामाजिक पहलू कुछ धूमिल–सा पड़ जाता है और यहाँ पर शिक्षा मुख्यतः सत्य–साधना और ब्रह्म–दर्शन का एक साधन बन जाती है।

प्लेटो के शिष्य अरस्तू के अनुसार शिक्षा

ग्रीक दार्शनिक अरस्तू ने अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन 'पॉलिटिक्स' की पाँचवी पुस्तक में किया है। अपने गुरू के समान अरस्तू भी नागरिकों के चरित्र निर्माण के लिए शिक्षा को आवश्यक मानते है। अरस्तू के अनुसार शिक्षा सर्वोत्तम अथवा आदर्श समाज या राज्य के लिए एक अनिवार्य तत्त्व है। आदर्श समाज या राज्य के निर्माण और स्थायित्व के लिए उपयुक्त शिक्षा–पद्धति आवश्यक है। अरस्तू की शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों को संविधान के अनुकूल बनाना है ताकि राज्य अथवा समाज और उनमें किसी प्रकार का विभेद न रह जाए और नागरिकों के मानसिक–स्तर की भी उन्नति हो जाए। इसी दृष्टि से अरस्तू के अनुसार शिक्षा व्यक्तिगत क्षेत्र में न होकर राज्य या समाज के क्षेत्र में होनी चाहिए। अरस्तू के अनुसार शिक्षा के तीन मूल सिद्धान्त है :–

1. राज्य अथवा समाज के निवासियों को इस प्रकार की शिक्षा से शिक्षित करना चाहिए कि जिससे समाज अथवा राज्य के निवासी स्वयं को राज्य का योग्यतम सदस्य बनाकर स्वयं का और राज्य का विकास कर सकें। अरस्तू सभी नागरिकों के लिए एक जैसी शिक्षा की व्यवस्था करता है।
2. अरस्तू के अनुसार शिक्षा राजनीति का एक अंग है, अतः इसका एक राजनैतिक उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति तभी हो सकती है जब शिक्षा राज्य के नागरिकों को चरित्रवान और नैतिक बनाये।
3. शिक्षा नागरिकों को संविधान के अनुकूल बनाए।

आर्थिक संस्थाएँ

ये ऐसी संस्थाएँ होती है, जो मानव जीवन का निर्माण तो नहीं करती हैं परन्तु उनके रक्षण में सहायक अवश्य होती हैं। ये संस्थाएँ हमारी वर्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। मनुष्य को स्पष्टतः भोजन, पानी, हवा, धूप, नींद, व्यायाम, गरमी और विश्राम की आवश्यकता होती है। लोगों की आवश्यकताएँ विभिन्न स्थान और परिस्थितियों के कारण पृथक–पृथक होती है, भले ही वस्तुओं की आवश्यकताएँ कुछ अंगों में शारीरिक–गठन और जीवन में आदतों की भिन्नता के कारण भी अलग–अलग होती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन और सुविधाएँ उद्योग और वाणिज्य के विभिन्न रूपों में मिलती हैं। फिर उद्योग और वाणिज्य हमारी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी करते हैं, जैसे उन्हें हम पुस्तकों, चित्रों, युद्ध–सामग्री, खेल का सामान, यात्रा सुविधाएँ, वाद्य–यन्त्रों आदि की पूर्ति के रूप में भी समझ सकते है। इन पदार्थों की माँग और संभरण की शर्तें, अन्य पदार्थों से इतनी भिन्न होती है कि हम इन्हें आर्थिक पदार्थों के रूप में मानने को भी तैयार नहीं होते। अब हम इन आर्थिक संस्थाओं को प्राथमिक रूप से अपनी वर्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली ही समझेंगे। उद्योग और वाणिज्य से सम्बन्धित अधिकतर संस्थाएँ मुख्यतः इन्हीं बातों से सम्बन्धित होती है। जैसे, भूमि अधिकरण, कारखाने, बाजार, सहकारी–संस्थाएँ, मजदूर–संघ, बन्दरगाह, पोत–निर्माण–स्थल आदि। यद्यपि कुछ संस्थाएँ, जो पूर्ण रूप से आर्थिक नहीं होती परन्तु ऐसी संस्थाओं के मूल कार्यों से लगभग मिली–जुली होती है।

आर्थिक संस्थाओं की दार्शनिक पृष्ठभूमि

जब हम आर्थिक संस्थाओं पर विचार करते तो एक बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि आर्थिक विकास का सम्बन्ध प्राविधिक विकास से है। प्रकृति पर मानव की विजय का उपकरण ही प्रविधि अथवा तकनीक कहलाती है। प्रविधि के अनुरूप ही समाज का निर्माण होता है। यह ठीक है कि यदि प्राविधिक आविष्कार सामाजिक आविष्कार को गति देता है तो दूसरी ओर सामाजिक आविष्कार भी प्राविधिक आविष्कारों को प्रभावित करते है। इस सन्दर्भ में कार्ल मार्क्स के आर्थिक निर्णायकवाद और वेवलन के प्राविधिक निर्णायकवाद का उल्लेख करना उचित होगा। मार्क्स इतिहास की भौतिक व्याख्या में विश्वास करते थे जिसके अनुसार हमारी सामाजिक रचना का आधार आर्थिक है अर्थात् जिस काम में हमें आर्थिक लाभ होता है, हम विशेषकर वही करते है। आर्थिक स्थिति पर हमारी शिक्षा, स्वास्थ्य, खान–पान, रहन–सहन और चिन्तन आदि निर्भर करता है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति की जीविका का कोई न कोई आधार आर्थिक ही है। जैसे कोई मिस्त्री है, कोई लौहार तथा कोई किसान। हम अपनी अर्थिक स्थिति के अनुसार ही अपने सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का निर्माण करते है। समाज रचना के आधार कुल मिलाकर आर्थिक ही होते हैं। आर्थिक कारणों से ही समाज में अमीर–गरीब, बुर्जआ–सर्वहारा के दो वर्ग बन जाते है और फिर वर्ग युद्ध प्रारम्भ होता है। जब मजदूरों को श्रम का उचित मूल्य नहीं देकर उन्हें कम दिया जाता है तो शोषण प्रारम्भ होता है। इसलिये उत्पादित वस्तुओं का अतिरिक्त मूल्य जो वास्तव में मजदूरों ने उचित से कम मजदूरी लेकर पैदा किया है, वह मालिकों की जेब में जाता है। उत्पादन के मालिकों का यही लाभ होता है। वे इसे अधिकाधिक बढ़ाना चाहते है और श्रमिक इस मुनाफे के अधिकाधिक भाग को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं क्योंकि वे अपना शोषण कम करने के लिए संगठित होकर हड़तालें, आन्दोलन करके अधिक मजदूरी, बोनस आदि की मांग करते हैं। इसी से वर्ग युद्ध होता है। अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की नींव पर ही पूँजीवाद खड़ा है। यह वर्ग–संघर्ष जो आर्थिक–कारणों से उत्पन्न हुआ, यान्त्रिक कारणों से उग्र हुआ क्योंकि यंत्रों से पूँजी का जमाव और विस्तार तेजी हुआ है। यही कारण है कि आर्थिक परिस्थितियां हमारे विचारों को, हमारे संगठनों को और हमारी संस्कृति एवं हमारे जीवन–दर्शन को प्रभावित करती है।

वेवलन कार्लमार्क्स की तरह मनोवैज्ञानिक व्यवहारवाद से प्रभावित है। व्यवहारवाद का आधार मनोविज्ञान का उत्तेजना–प्रतिक्रियावाद है। वास्तव में हमारे सामने जैसा भी वातावरण उपस्थित होता है हम उसी के प्रति अपनी प्रतिक्रिया उपस्थित करते है। लगता है, हम वातावरण के बन्दी हैं। वेवलन व्यवहारवाद को कुछ और तेज करता है। मनुष्य को वह आदतों का निर्मित उत्पाद मानता है। कोई भी आदत जन्मजात नहीं होती। मनुष्य में मूल–प्रवृतियाँ होती है। फिर प्रत्येक की अलग–अलग आदतें बन जाती हैं। आदतें कोई शून्य में नहीं बनती। उनके आर्थिक कारण होते हैं। इसलिए भिन्न–भिन्न सामाजिक आर्थिक–सांस्कृतिक वातावरणों में हमारी भिन्न–भिन्न आदतें बनती है अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार वातावरण का बन्दी है, उसी प्रकार वह आदतों का भी दास हो जाता है। वेवलन के अनुसार समाज के आधारभूत वातावरण पर यंत्रों का प्रभाव ही नहीं पड़ता है बल्कि प्रविधि एवं यन्त्र ही हमारे विचारों एवं व्यवहारों के निर्णायक होते हैं। जब पाषाण युग था तो हमारी एक प्रकार की आदत थी, बाद में जब पूर्व–औद्योगिक क्रांति का युग था तो हमारी दूसरी प्रकार की आदत थी, जब अणु युग आया तो हमारी आदतों में परिवर्तन हुआ। इस प्रकार मार्क्स एवं वेवलन के विचारों के अनुसार आर्थिक एवं प्राविधिक पहलू समाज को प्रभावित करते हैं, लेकिन इन दोनों के बीच कारण–कार्य सम्बन्ध मानना ठीक नहीं। वास्तव में दोनों की सत्ता एक साथ देखी जाती है। अतः दोनों के बीच सहचारी सम्बन्ध हैं। आज प्रायः समस्त दुनिया में एक सा आर्थिक एवं यांत्रिक वातावरण है फिर भी सब जगह समाज भिन्न–भिन्न है। रूस अमेरिका में एक ही प्राविधिक विकास है, परन्तु फिर भी वहां कहीं साम्यवाद है तो दूसरी जगह पूँजीवाद तो कहीं तानाशाही तो कहीं पर लोकतन्त्र है। ऐसी स्थिति में समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाना अधिक उचित होता है। अतः कार्ल मार्क्स एवं वेवलन दोनों के विचार एकांगी है। सत्य के लिए दोनों का समन्वय होना चाहिए।

भारतीय दर्शन की दृष्टि से यदि आर्थिक संस्थाओं पर विचार किया जाए तो हम पाते है कि भारतीय धर्मशास्त्रों में कर्त्तव्य अथवा श्रम को आर्थिक संस्था के रूप में प्रमुख स्थान दिया गया है। धर्मशास्त्रों में श्रम का विभाजन बड़े स्पष्ट आधार पर किया गया है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने गुण और कर्म के आधार कार्य करना चाहिए। जिसका निर्धारण मनुष्य के वर्ण में गुण–स्वभाव के आधार पर किया जा सकता है। यहां यह कहा जा सकता है कि यह वर्ण विभाजन एक प्रकार का श्रम विभाजन है और श्रम एक आर्थिक संस्था है। भारतीय धर्मशास्त्रों में वर्ण विभाजन के द्वारा समाज के व्यक्तियों को कई वर्गों में बाँटकर उनका श्रम और उनकी जीवन वृत्ति का निर्धारण किया गया, जिससे वे अपने वर्ण के कार्यों में दक्ष होकर अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह समुचित रूप में कर सके और समाज को सुखमय और व्यवस्थित बनाने में पूर्ण सहयोग दे तथा समाज के अविभाज्य अंग के रूप में स्वयं भी सुख पूर्वक अपने जीवन का निर्वाह कर सकें। श्रम के अलावा भारतीय चिन्तन में सम्पत्ति को दूसरी आर्थिक संस्था के रूप में स्वीकार किया गया है।

राजनैतिक संस्थाएँ

मनुष्य एक विवेकशील प्राणी होते हुए भी एक वर्धी और जान्त्विक आवेगों के कारण स्वाभाविक रूप से समन्वय और नियंत्रण की ओर प्रेरित होता है। प्रायः हम सभी समुदायों में, यहां तक कि आदिकालीन समुदायों में भी, शासन के किसी न किसी रूप को पाते हैं। चाहे यह कबीले में किसी को मुखिया मान लेने के रूप हो। भले ही उसमें चारों ओर के लोगों के साथ संघर्ष अथवा आन्तरिक अनुशासन की कठिनाइयाँ हों, इससे एक विकसित व्यवस्था की स्थापना का जन्म हुआ, जिसमें आदिकालीन रीतिरिवाज नियम के रूप में रखे गए और इस तरह राज्य

P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-5* ISSUE-12*August- 2018
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

की सहायक बनीं। क्रमशः अधिकारों का निश्चय हुआ, उनकी परिभाषाएँ दी जाने लगी और न्याय के सिद्धान्त को महत्त्व मिला। इस प्रकार अपने अधीन करने की प्रणालियों में बल प्रयोग भी होने लगा, परिणाम स्वरूप इस प्रकार की व्यवस्था में स्वभावतः सेना ने स्थान प्राप्त कर लिया। प्लेटो ने भी अनुभव किया था कि सैनिक कार्यवाही केन्द्रीय सरकार को मजबूत बनाती है।

राज्य की परिभाषा

राजनैतिक संस्था के रूप में जब राज्य की बात की जाए तो 'राज्य' शब्द की परिभाषा निश्चित करना बहुत कठिन है। इसकी अवधारणा के साथ अनेक तत्त्व, जैसे संप्रभुता, प्रजा, जनता, देश, राष्ट्र आदि। साधारण भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्द कुछ अस्पष्ट भी होते हैं, परन्तु हम यहां वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही समस्याओं का उचित विश्लेषण करते है क्योंकि राजनीतिशास्त्र वास्तव में सामाजिक कल्याण के लिए एक संगठन का आदर्शमूलक विज्ञान है। यही कारण है कि राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र का एक अंग माना गया है और इसी कारण से भारत में राजनीति के लिए 'राजधर्म' शब्द का प्रयोग किया जाता है। नीति और धर्म के बिना राजनीति राष्ट्रों का जीवन नहीं बल्कि आततायियों का आश्रय–स्थल बन जाती है। जिसे आज हम राजनीति कहते है वस्तुतः वह स्वार्थ और सत्ता–संघर्ष की दुर्नीति बन गया है, जहां लाभ और लोभ के अवसरों के लिए सिद्धांत का उपयोग किया जाता है। भर्तृहरि ने इसीलिए राजनीति की उपमा वेश्या से की है अर्थात् वारांगेन धृत अनेकरूपा तात्पर्य, बडें, बडें राष्ट्रों की कथनी और करनी में भयानक भेद रहता है। संधि–पत्रों की स्याही सूख भी नहीं पाती है कि युद्ध की रणभेरी बजने लगती है। राजनयिक सिद्धान्त और व्यवहार का द्वैत इतना वीभत्स होता है कि 'राजनीति को कुटिल नीति' कहने में कोई गलती नहीं हैं। आज राजनीतिज्ञ अंतरिक्ष से लेकर समुद्र के अन्तराल तक की चिन्ता करते दिखायी पड़ते हैं, तो स्वयं राजनीति ही हमारी चिन्ता का विषय बनती जा रही है और आज जबकि विज्ञान ने राज्य के हाथों अभूतपूर्व संहार–शक्ति सौंप दी है, तब इस सिद्धान्त और नीतिविहीन व्यवस्था से मनुष्य का भविष्य केवल अन्धकारमय ही दीख पड़ रहा है। इसलिए राजनीति की समस्या मूलतः एक नीति की समस्या है। अतः आज राजनीति का कायाकल्प आवश्यक है। प्रो0सोरोकिन के अनुसार, ''राजनीति का भविष्य मानवता के भविष्य के साथ जुड़ा हुआ है।'' अरस्तू के अनुसार, ''राजनीति भ्रातृत्व है और इस अर्थ में यह नीतिशास्त्र ही है। परन्तु जे0 पी0 नारायण के अनुसार, ''आदर्शो से आदर्श राजनैतिक व्यवस्था एवं संविधान भी निष्फल हो सकते हैं जब उसको चलाने वाले लोग नैतिक एवं आध्यात्मिक गुणों से सम्पन्न नहीं हों।'' (A Plea for Reconstruction of Indian Polity, page no.03, Varanasi, 1959)। सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार, ''धूर्तता एवं प्रवंचना पर आधारित राजनीति अधिकाधिक कपट एवं घृणा ही फैलायेगी। परमाणु युग में धर्म–विहीन राजनीति सचमुच मौत का एक फन्दा है।'' इस प्रकार की राजनीति न कर्मकाण्ड है न समुदायवाद। कार्ल जास्पर्स ने अच्छी राजनीति या शुद्धात्मकता की धार्मिक राजनीति को ही इस संकट का एकमात्र इलाज माना हैं। भारत में राज धर्म की चर्चा भीष्म, विदुर जैसे नीतिवान लोगों ने की है।

राज्य के सम्बन्ध में विभिन्न न्यायशास्त्रियों, इतिहासज्ञों, समाजशास्त्रियों, राजनीतिशास्त्रियों और दार्शनिकों ने भिन्न–भिन्न निष्कर्षों का प्रतिपादन किया है। वास्तव में राज्य समाज की एक सबसे व्यापक और शायद सबसे प्रभावशाली संस्था है। कहा ही जाता है कि, ''सर्वंधर्माः राजधर्मे निमग्नताः।'' आज तो हमारा विकास, शिक्षण, जीविका, अर्थात् जीवन से मरण तक सब राज्य के ही अधीन हो गए है। राज्य केवल सर्वव्यापक ही नहीं वह संभवतः सर्वशक्तिमान भी है। राज्य हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू पर नियन्त्रण लगा सकता है। वह चाहे तो इच्छा के विपरीत युद्ध क्षेत्र में भेज सकता है और अस्वीकार करने पर राजद्रोही करार देकर मुत्यु–दण्ड भी दे सकता है। फिर आज औद्योगिक युग में तो राज्य केवल राजनैतिक सर्वाधिकार सम्पन्न ही नहीं बल्कि आर्थिक सर्वाधिकार सम्पन्न भी हैं। राज्य ही सबसे बड़ा उद्योगपति, सबसे बड़ा जीविका प्रदान करने वाला मालिक और सबसे बड़ा उत्पादक है। फिर भी समाजशास्त्रीय दृष्टि से व्यक्ति और समूह के सम्बन्ध में विचार करने पर राज्य कोई प्राथमिक या मौलिक समूह नहीं है, जिसमें व्यक्ति का समूह से साक्षात् प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो। समाज में दो प्रकार के समूह होते है। (1) प्राथमिक रूप से उपयोगात्मक (2) प्राथमिक रूप से सांस्कृतिक। उपयोगात्मक समूह में मुख्यतः आर्थिक संगठन आते हैं। छोटे–छोटे समूहों में व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को जानता है। इसमें सबसे पहला छोटा–सा समूह परिवार का होता है, जहां सभी सदस्य प्रत्यक्ष रूप से समूह में रहते हैं। इसी प्रकार परिवार के अलावा वर्ग, बिरादरी, जाति, वंश, राष्ट्र आदि भी है। ये सब सम–स्वार्थता के आधार पर निर्मित होते है। सहजता इसका नियम है। इसके विपरीत राज्य व्युत्पन्न या गौण समूह है, क्योंकि यहां व्यक्तियों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता है। लेकिन समाज–विकास में जब प्राथमिक समूहों से काम नहीं चलता है, जब समूह बड़ा हो जाता है, तब प्रत्येक व्यक्ति की अपनी–अपनी समस्या होने लगती है, तब व्युत्पन्न समूह बड़ा हो जाता है, जब प्रत्येक व्यक्ति की अपनी–अपनी समस्या होने लगती है, तब व्युत्पन्न समूह बनते हैं जो हार्दिक सम्बन्धों के बजाय नियमों–उपनियमों से परिभाषित होते हैं। राज्य इसी तरह का व्युत्पन्न समूह हैं। यह अप्रत्यक्ष और जटिल होता है, यहां पारिवारिकता और स्वाभाविकता नहीं होती बल्कि नियम, कानून और नौकरशाही होती है। इस प्रकार राज्य राजनीतिक–शास्त्र का विषय है, जिसके अन्दर राज्य के स्वरूप, कार्य, उत्पत्ति के सिद्धान्त एवं आदर्श के अतिरिक्त राज्य–शासन के विधान आदि का भी निरूपण होता है।

भारतीय समाज दर्शन की दृष्टि से राज्य रूपी संस्था ही न्याय एवं दण्ड व्यवस्था की प्रमुख संचालक है। राज्य के अधिकार में न्याय एवं दण्ड इतना महत्त्वपूर्ण है जिसके कारण इसकी प्रभुसत्ता को चुनौती देना संभव नही हो पाता। राज्य बाहरी शत्रुओं से समाज की रक्षा युद्ध की घोषणा कर एवं युद्ध करके करता है तथा आंतरिक अपराधों को राकने के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था

करता है। भारतीय धर्मशास्त्रों में राज्य के अवयवनिष्ठ स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है जिसमें मनु द्वारा प्रतिपादित राज्य का स्वरूप सप्तांग है। मनु के इस सप्तांग या सप्त प्रकृति वाले राज्य के स्वरूप का समर्थन कौटिल्य ने भी किया है। इन सप्तांगों में स्वामी आमात्य, पुर, राष्ट्र, कोश, दण्ड और मित्र को रखा गया है। इनमें स्वामी के स्थान पर राजा, आमात्य के स्थान पर मन्त्री तथा पुर के स्थान पर किला, परकोटा, खाई आदि से सुरक्षित स्थान को रखा गया है। मनु द्वारा प्रतिपादित राज्य के सप्तांग स्वरूप का समर्थन याज्ञवल्क्य ने भी किया है, परन्तु मनु के सप्तांग के पुर और राष्ट्र के स्थान पर याज्ञवल्क्य ने जन तथा दुर्ग का उल्लेख किया है। इन सप्तांगों में मनु पुर एवं राष्ट्र को अलग मानते हुए पुर को राजधानी और राष्ट्र को समस्त भू–भाग के रूप परिभाषित करना चाहते हैं, परन्तु याज्ञवल्क्य के अनुसार ये दो स्वतन्त्र अंग नहीं है, अपितु ये दोनों जन के अन्तर्गत आ जाते हैं और इस प्रकार मनु के सात अंग याज्ञवल्क्य के छः अंग में समाविष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि याज्ञवल्क्य ने सातवें अंग के रूप में दुर्ग का उल्लेख किया है। महाभारत के शांतिपर्व में सप्तांग के यहाँ राजा के स्थान पर आत्मा का निर्देश इस मान्यता की ओर संकेत करता है कि राजा ही राज्य की आत्मा है। राज्य रूपी संस्था इन सात प्रकृतियों या अंगों सदा युक्त रहता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम कह सकते है कि संस्थायें साहचर्य की ऐसी प्रणालियां है, जिनके निर्माण में मानव सभ्यता के सैकडों–हजारों वर्ष लगें है। ये संस्थाएं न केवल मनुष्य की आश्यकताओं को पूरा करती है, अपितु मानव के विकास में मानव का सभी प्रकार से सहयोग करती है। यही कारण है कि इनका स्वरूप मानव जीवन में सभ्यता के विकास के साथ–साथ स्थायी रहा है, हालांकि देश–काल एवं परिस्थिति के अनुसार इन संस्थाओं के रूप में अवश्य ही परिवर्तन आएं है और यह परिवर्तन मानव सभ्यता के विकास की आवश्यकता है,परन्तु इन संस्थाओं का स्वरूप एवं लक्ष्य जैसे थे वैसे ही है और वैसे ही रहेंगें।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. *राहुल सांकृत्यायन, मानव–समाज, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष–2012*
2. *जे0 एस0 मेकेन्जी, समाज–दर्शन की रूपरेखा, रूपान्तरकार, डॉ0 अजीत कुमार सिन्हा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, वर्ष–1962*
3. *संगम लाल पाण्डेय, समाज दर्शन की एक प्रणाली, इलाहाबाद।*
4. *डॉ0 हृदय नारायण मिश्र, समाज दर्शन–सैद्धांतिक एवं समस्यात्मक विवेचन, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष–2009*
5. *डॉ0 रामजी सिंह, समाजदर्शन के मूल तत्त्व, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1983*
6. *डी0 आर0 जाटव, भारतीय समाज एवं विचारधाराएँ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, वर्ष–2002*
7. *हेंड्रिक विलोम फ़ान लून. हिन्दी अनुवाद. अरूण कुमार, प्रकाशन संस्थान, अंसार रोड, नई दिल्ली, वर्ष–2014*
8. *डॉ0 पिताम्बरदास, सामाजिक पुनर्निर्माण में डॉ0 भगवानदास के धर्म–दर्शन का योगदान, विश्वज्ञान अध्ययन संस्थान एवं अंकित प्रकाशन, मडॉव, रोहनिया, वाराणसी, वर्ष–2014*
9. *प्रो0 अशोक कुमार वर्मा, प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, वर्ष–2006*
10. *जगदीशसहाय श्रीवास्तव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, वर्ष–2002*
11. *डॉ0 शिवभानु सिंह, समाज दर्शन का सर्वेक्षण, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, वर्ष–2001*
12. *डॉ0 रामनाथ शर्मा, समाज दर्शन, केदारनाथ रामनाथ एण्ड क0, मेरठ, वर्ष–1998*
13. *डॉ0 बी0 एन0 सिन्हा, समाज दर्शन–सामाजिक व राजनीतिक दर्शन, सपना अशोक प्रकाशन, रामनगर, वाराणसी।*
14. *डॉ0 पिताम्बर दास, शोध पत्र–'मानव स्वभाव की उत्पत्ति' वो0 5, अंक–10, जून–2018, श्रृंखला एक शोधपरक वैचारिक पत्रिका, सोशल रिसर्च फाउण्डेशन, कानपुर, उ0प्र0 द्वारा प्रकाशित।*
15. *डॉ0 पिताम्बर दास, शोध पत्र–'समाज की दार्शनिक पृष्ठभूमि' वो0 6, अंक–4, मई–2018, पीरियोडिक रिसर्च पत्रिका, सोशल रिसर्च फाउण्डेशन, कानपुर, उ0प्र0 द्वारा प्रकाशित, पृ0सं0 44–50.*